सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

आचार्य रामूर्ति त्रिपाठी, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

जैन चिन्ताधाराकी विशेषताएँ

चार्वाकको छोड़कर हिन्दू संस्कृतिमें ऐसी कोई चिन्ताधारा नहीं है जो जन्म-मरणकी शृंखला न मानती हो। ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन—तीनों ही धारायें इसे स्वीकार करती हैं। इन सबमें केवल मीमांसा-धारा ही ऐसी ब्राह्मणवर्गीय चिन्ताधारा है जो शृंखलाका समुच्छेद नहीं मानती। अन्यथा और सभी धारायें जन्म-मरणकी शृंखला भी स्वीकार करती हैं और उसका समुच्छेद भी। यह दूसरी बात है कि इनमेंसे जहाँ हीनयानी बौद्ध धारा अनात्मवादी है, वहाँ शेष आत्मवादी। जैन चिन्ताधारा न तो चेतना और पदार्थके विकल्पमें पदार्थवादी है और न ही बौद्धोंकी भाँति अनात्मवादी। निष्कर्ष यह है कि वह आत्मवादके प्रति आस्थावान् है और जन्म-मरणकी शृंखला स्वीकार करती हुई उसका समुच्छेद भी मानती है। जैन चिन्ता-धारा उन लोगोंसे सहमत नहीं है जो चरम पुरुषार्थके रूपमें समुच्छेद या आभावात्मक स्थितिकी घोषणा करते हैं। अतः यह न तो इस प्रश्न पर कि जीवनका चरम लक्ष्य मोक्ष क्या और कैसा है, अनात्मवादी हीनयानी बौद्धोंसे सहमत है और न ही आत्मवादी न्याय तथा वैशेषिकसे। क्योंकि जहाँ एक ओर अनात्म-वादी हीनयानी समुच्छेदके अनन्तर शून्य ही शून्यकी घोषणा करता है, वहाँ आत्मवादी न्याय-वैशषिक समुच्छेदके बाद भी आत्माकी स्थिति मानता हुआ उसे प्रस्तरवत् ज्ञानशून्य स्वीकार करता है। सांख्य पातञ्जलकी भाँति आत्मवादी होता हुआ भी समुच्छेदके अनन्तर निरानन्द स्वरूपावस्थिति मात्र भी उसे चरम पुरुषार्थके रूपमें इष्ट नहीं है। वह वेदान्तियों और आगमिकोंकी भाँति चरमस्थितिको स्वरूपावस्थान तो मानता है, चिदानन्दमय स्वभावमें प्रतिष्ठित तो स्वीकार करता है परन्तु द्वैतवादियोंकी भाँति किसी अति-रिक्त परमेश्वरको नहीं मानता। अन्ततः अद्वैतवादियोंकी भाँति चिदानन्दमय स्वरूपावस्थानको ही पुरुषका चरम पुरुषार्थ मोक्ष स्वीकार करता हुआ भी अपनेको इस अर्थमें विशिष्ट कर लेता है कि वह आत्माको मध्यम परिमाण स्वीकार करता है, न अणु परिमाण, न ही महत् परिमाण। वह मानता है कि आत्मा अनादि परम्परायात आवरक कर्ममलसे आच्छन्न रहकर जन्म-मरणके दुःसह चक्रमें कष्ट भोगता रहता है। इसी चक्रसे मुक्त होनेके लिए जैन तीर्थंकरोंने मोक्षमार्गका विचार करते हुए जो कुछ कहा है, प्रस्तुत सूत्र उसीका निदर्शक है।

मुक्तिका अर्थ 'स्व-भाव' प्राप्ति

दुःखसे मुक्ति सभी चाहते हैं पर यह मुक्ति क्षणिक भी हो सकती है और आत्यन्तिक भी। आत्यन्तिक मुक्ति इस चिन्ताधाराके अनुसार तभी सम्भव है जब साधक स्वभावमें स्थित हो जाय। इस धाराके अनुसार 'स्व' भावमें प्रतिष्ठित होनेमें बाधक है आवरण कर्म। यदि इनका क्षय हो जाय, तो आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाय, स्व भावमें आ जाय। उसका स्व भाव सच्चिदानन्दयता ही है। यही आत्यन्तिक सुख है क्योंकि इसके बाद कर्मोंकी उपाधि लगनेवाली नहीं है। कर्मोंका आत्यन्तिक अभाव ही तो मोक्ष है। दुःखका अनुभव इन्हीं कर्मोंके कारण तो होता है। जहाँ कर्मोंका क्षय हो गया, वहाँ दुःख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ ? इतना ही नहीं, वहाँ स्वभावका सुख, प्रतिबन्धकके निराकृत होनेसे, व्यक्त हो जाता है। अतः वस्तुतः मोक्ष अभावात्मक नहीं, स्व-भावात्मक है। इसीलिए यह स्वाभाविक है, अर्जित नहीं। एक बात और समझनी चाहिये। यह मोक्ष या स्वभाव सुख नया पैदा नहीं होता जिससे उसमें नाश सम्भावित हो। सूर्य पर बादल आ जाय तो अन्धकार और हट जाय, तो प्रकाश पर बादल हटनेका अर्थ यह नहीं कि उस सूर्यमें नया प्रकाश उत्पन्न हो गया है जो पहले अविद्यमान था। बादलकी भाँति एक बार यदि कर्मावरण हट गया, तो यह बादलोपम कर्मावरण फिर आनेवाला नहीं है। साथ ही, स्वभावका सहज सुख व्यक्त हो गया, तो वह फिर जानेवाला नहीं है। साथ ही, तत्वतः वह कहीं और से नया आया हुआ भी नहीं है, स्व-भाव सुख है। सुखात्मा स्वभावका उन्मेष है। यही मोक्ष है। इसके अस्तित्वमें तर्कसे अनुभव अधिक प्रमाण है।

मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्रकी व्याख्या : केवल ज्ञानमार्गसे मुक्ति नहीं

इसी मोक्षका मार्ग है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र। पूर्व पूर्वसे उत्तरोत्तरका उन्मेष सम्भव है। पर उत्तरोत्तरसे पूर्व पूर्वका अस्तित्व निश्चय है। सूत्रकारने इन तीनोंको सम्मिलित रूपमें मोक्षमार्ग कहा है। सूत्रमें दो पद हैं—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तथा मोक्षमार्ग, दोनों ही सामासिक पद हैं। दर्शनज्ञानचारित्राणि द्वन्द्व समास है, अतः समासघटक प्रत्येक पद प्रधान है। फलतः द्वन्दके आदिमें विद्यमान **सम्यक्** शब्दसे सभीका स्वतन्त्र सम्बन्ध है। इस प्रकार सूत्रके एक अंशका अर्थ है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। मोक्षमार्गका अर्थ स्पट है—मोक्षका मार्ग। अभिप्राय यह कि ये तीनों सम्मिलित रूपमें मोक्ष मार्ग हैं। इस दृष्टिसे तीनों एक है। इसीलिए सूत्रमें विशेषणका बहुवचनान्त होना और विशेष्यका एक वचनान्त होना 'वेदाः प्रमाणम्'की भाँति साभिप्राय और सार्थक है। निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्गके प्रति तीनोंकी सम्मिलित कारणता है।

कुछ लोगोंकी धारणा है कि अनुभव और शास्त्रीय प्रमाण यह बताते हैं कि बंध मात्र अज्ञानसे होता है और मोक्ष मात्र ज्ञानसे, अतः तीनोंकी सम्मिलित कारणता अविचारित-रमणीय है, विचारित सुस्थ नहीं। निःसन्देह ज्ञानसे अज्ञान निवृत होता है और अज्ञाननिवृत्तिसे बन्ध दूर होता है। **सांख्यदर्शन** प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञानसे बन्ध तथा अन्यथाख्यातिसे मोक्ष मानता ही है। **न्याय दर्शन** भी तत्त्वज्ञानसे मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष कहता है। मिष्थ्याज्ञानसे दोष, दोषसे प्रवृत्ति, प्रवृत्तिसे जन्म और जन्मसे दुखकी सन्तति प्रवहमान होती है। इसी सर्वमूल मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है। **वैशिषक** भी मानते हैं कि इच्छा और द्वेषसे धर्माधर्म और उनसे सुखदुखात्मक संसार होता है। यहाँ छहों पदार्थोंका तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है। **बौद्धोंका** द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पादवाद प्रसिद्ध है ही और इसका मूल अविद्या है, अन्यथा ज्ञान। तत्वज्ञानसे इसकी निवृत्ति होनेपर समस्त दुखचक्र समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त भी है। यहाँ मिथ्यादर्शन, अविरति आदि बन्ध हेतु हैं। इस प्रकार जब सर्वत्र ज्ञानमात्रको ही मोक्षका व्यंजक माना गया है, तब यहाँ भी केवलज्ञानको हेतु मानना चाहिए। ज्ञानके साथ दर्शन और चरित्रको नहीं। यह कहना कि समकालोत्पादके कारण दर्शन, ज्ञान और चरित्र भिन्न हैं ही नहीं, अमान्य है। अनुभव तथा प्रमाण और परिणाम भेदसे सिद्धभेदका निराकरण समकालोत्पाद मात्र हेतुसे संभव नहीं है। समकालोत्पादकता तो दो सीगोंमें भी है, क्या इसीलिए वे एक हो जायेंगे। अभिप्राय यह है कि दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र तीन हैं, एक नहीं। अतः उक्त रीतिसे इन तीनोंकी सम्मिलित मोक्षमार्गता माननेकी जगह केवलज्ञानको ही मोक्ष मार्ग मानना चाहिए। वेदान्त भी कहता है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन चिन्तक इसका उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि यह ठीक है कि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है परन्तु जिस प्रकार सायनका श्रद्धापूर्वक ज्ञानकर उपयोग या सेवन किया जाय, तभी आरोग्यरूप पूराफल मिलता है, उसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञान पूर्वक, निष्ठाके साथ किया गया आचरण ही अभीष्ट फल पैदा करता है। जिस प्रकार अज्ञानियोंकी क्रिया व्यर्थ है, उसी प्रकार क्रियाहीनका ज्ञान व्यर्थ है और उसके लिए दोनों ही व्यर्थ है, जिसमें निष्ठा या श्रद्धा नहीं है। इस प्रकार अभीष्ट फलकी प्राप्तिके निमित्त श्रद्धा, ज्ञान तथा चरित्र-तीनों सम्मिलित कारणता है।

तीनोंकी सम्मिलित कारणताका निश्चय हो जानेके बाद एक-एक घटकके स्वरूपपर विचार अब प्रसंग प्राप्त है।

सम्यक्‌दर्शन

सम्यक् एक निपात शब्द है जिसका अर्थ होता है प्रशंसा। कभी-कभी मिथ्या या असम्यक्के विरोधमें भी इसका प्रयोग होता है। इस प्रकार सम्यक् विशेषण विशेष्योंमें सम्भावित मिथ्यात्वकी निवृत्ति फलतः उनकी प्रशस्तता अथवा अभ्यर्हताका भी द्योतक है। सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' के अनुसार सम्यक् शब्दका अर्थ, इष्टार्थ अथवा तत्त्व भी होता है। पर निपात शब्द अनेकार्थक होते हैं। अतः प्रसंगानुसार प्रशस्त अर्थ भी लिया जा सकता है। यों तत्त्व अर्थ भी लिया जा सकता है जिसका अभिप्राय तत्त्व दर्शन भी किया जा सकता है।

'दर्शन' शब्द दर्शन भाव या क्रियापरक तो है ही, दर्शन साधन-परक तथा दर्शनकर्त्ता-परक भी है। अर्थात् दर्शन क्रिया तो दर्शन है ही, वह आत्मशक्ति भी दर्शन है जिस रूपमें आत्मा परिणत होकर दर्शनका कारण बनाती है। स्वयं दर्शन आत्मस्वभाव है, अतः वह कर्त्ता आत्मासे भी अभिन्न है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वतः दर्शन आत्मासे भिन्न नहीं है। तथापि, स्वभावकी उपलब्धिके निमित्त जब आत्मा और दर्शनमें थोड़ा भेद मानकर चलना पड़ता है तब उसे भाव और कारणरूप भी माना जाता है।

'दर्शन' शब्द दृशि धातुसे बना है। अतः यद्यपि इसे भाव परक माननेपर 'देखना'के ही अर्थमें मानना उचित प्रतीत होता है, तथापि चूँकि धातुयें अनेकार्थक होती हैं, अतः यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ही लिया गया है। इसीलिए सम्यक् दर्शनको स्पष्ट करते हुए श्री उमास्वातिने उसका अर्थ तत्वार्थ श्रद्धान ही किया है। यों दर्शनका अर्थ श्रद्धान ही है, पर कहीं कोई अतत्त्वार्थका भी श्रद्धानका विषय न बना ले, इसीलिए तत्त्वार्थका स्पष्ट प्रयोग किया गया है। तत्त्वार्थमें भी दो टुकड़े हैं, तत्त्व तथा अर्थ। तत्त्वका अर्थ है—तत्का धर्म। भाव मात्र जिस धर्म या रूपके कारण है, वही रूप है तत्त्व। अर्थका अर्थ है ज्ञेय। इस प्रकार तत्त्वार्थका अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूपमें है, उसका उसी रूपसे ग्रहण। श्रद्धान भी भाव कर्म तथा करण व्युत्पत्तिक है। निष्कर्ष यह है कि तत्त्व रूपसे प्रसिद्ध अर्थोंका श्रद्धान ही तत्त्व श्रद्धान है।

यह सम्यक दर्शन सराग भी होता है और वीतराग भी। पहला साधन ही है और दूसरा साध्य भी है। प्रथम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है, वह सराग दर्शन हैं तथा मोहनीयकी सात कर्म प्रकृतियोंका अत्यन्त निवास होनेपर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यकग्दर्शन होता है। उभयविध सम्यक् दर्शन स्वभावतः भी संभव है और परोपदेश वश भी। निसर्गज सम्यक् दर्शनके लिए अन्तरंगकारण है, दर्शन मोहका उपशम, क्षय या क्षयोपशम। यदि साधकमें दर्शन मोहका क्षयापशम हो, तो बिना उपदेशके ही तत्त्वार्थमें श्रृद्धा हो जाती है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, एवं मोक्ष सात तत्व हैं। अधिगमज सम्यक दर्शनके निमित दो हैं, प्रमाण तथा नय। अभिप्राय यह है कि तत्त्वार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयक श्रद्धा नैसर्गिक भी है और नैमित्तिक भी। एक अन्य दृष्टिसे सम्यक दर्शनके तीन भेद भी हैं। १. क्षायिक २. औपशामिक ३. क्षायोपशामिक।

सम्यक्ज्ञान

ज्ञान पाँच प्रकारके हैं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। मत्यावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे अर्थोंका मनन मति है। श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय, वह श्रुत है। ये दोनों ही ज्ञान परोक्ष माने जाते हैं। परोक्ष इसलिये कि इन ज्ञानोंमें ज्ञानस्वभाव आत्माको स्वेतर इन्द्रिय तथा मनकी अपेक्षा होती है। अतः ये दोनों पराधीन होनेसे परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय तथा केवल-ये तीनों प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—देश प्रत्यक्ष तथा सर्व प्रत्यक्ष। देश प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्यय। सर्वप्रत्यक्ष एक ही है—केवल ज्ञान। व्यवहितका प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान, दूसरोंके मनोगतका ज्ञान मनःपर्यय तथा सर्वावरणक्षय होनेपर केवल ज्ञान होता है। अनन्त धर्मात्मक वस्तुका पूर्ण स्वरूप प्रमाणसे अर्थात् सम्यक् ज्ञानसे आता है और उसके एक-एक धर्मका ज्ञान कराने वाले ज्ञानांशको नय कहते हैं। वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो और फिर अनेक प्रकारका है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं। उन सब धर्मोंसे संयुक्त अखण्ड वस्तुको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं और उसके एक धर्मको जानने वाले ज्ञानको नय कहते हैं। इसी ज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिये योगी जन तप करते हैं। ज्ञानपूर्वक आचरण करनेवालेको किसी भी कालमें कर्मबन्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि प्रमाण तथा नयों द्वारा जीवादितत्त्वोंका संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित यथार्थबोध सम्यक्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्र

दर्शन तथा ज्ञानकी भाँति चारित्र भी भाव, करण तथा कर्म व्युत्पत्तिक शब्द है। सामान्यतः इसे कर्मव्युत्पत्तिक समझा जाता है चर्यत इति चारित्रम्। जो चर्यमाण हो, वही चरित्र है। आचरण ही चरित्र है। संस्मरणका मूलकारण है राग-द्वेष। इसकी निवृत्तिके लिये कृतसंकल्प विवेकी पुरुषका शारीरिक और वाचिक वाह्य क्रियायोंसे और अभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वरूप स्थिति प्राप्त करना सम्यक्चारित्र है।

सिद्धावस्था तक पहुँचनेके लिए साधकको अपनी नैतिक उन्नतिके अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्ष मार्गके इन सोपानोंको गुणस्थान कहते हैं। किसी न किसी रूपमें इन स्थानों या सोपानोंका उल्लेख सभी साधन धाराओंमें है। इन चौदह गुणस्थान या सोपानोंमें मिथ्यात्वसे सिद्धि तकका मार्ग है। ये चौदह सोपान हैं—मिथ्यात्व → ग्रन्थिभेद → मिश्र → अविरत → सम्यक्दृष्टि (संशयनाश होनेपर सम्यक् श्रद्धाका उदय) → देशविरति, प्रमत्त → अप्रमत्त → अपूर्वकरण → अनिवृत्तिकरण → सूक्ष्मसाम्पराय → उपशान्तमोह → क्षीणमोह (मोक्षावरणकर्मोंके नाशसे उत्पन्न दशायें)—संप्रोग केवल (इस सोपानमें साधक अनन्तज्ञान तथा अनन्त सुखसे देदीप्यमान हो उठता है)—अयोग केवल (अन्तिमदशा)। यहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तश्रद्धा तथा अनन्तशान्ति उपलब्ध होती है। तत्वतः चारित्र आत्माका स्वरूप ही है, अतः उसकी अभिव्यक्ति दर्शन और ज्ञान गत सम्यक्त्वत्वसे ही होती है।

इस चरित्र स्वभावकी अभिव्यक्तिके लिए अणुव्रत तथा महाव्रत विहित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। राग-द्वेषके कारण पाँच महापाप होते हैं—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील तथा परिग्रह। इनसे विरति साध्य है। इसी विरतिसे होनेवाला माध्यस्थभाव ही सम्यक्चरित्र है। यह दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारका है—सर्वदेशविरति तथा एकदेशविरति। पाँचों पापोंका यावज्जीवन सर्वथा त्याग सकल चरित्र है और एक देशत्याग देशचरित्र है। सर्वदेशविरतिमें यति या साधु निरत होता है और एकदेशविरतिमें श्रावक या गृहस्थ। श्रावकोंके बारह व्रत हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। एकदेश-विरतिसे सर्वदेशविरतिकी ओर बढ़ा जाता है, माध्यस्थभावकी ओर उठा जाता है, उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इस स्थितिमें पाँचमहाव्रत होने लगते हैं, करने नहीं पड़ते। पाँचमहाव्रत पाँच महापापोंका निरोध हैं और वस्तुतः देखा जाय तो ये पाँच महापाप हिंसा ही हैं। अतः अहिंसा ही महाव्रतोंमें प्रमुख है। जैनधर्मका हृदय यही अहिंसा है। अहिंसा की नहीं जाती, हिंसा नहीं की जाती है। अहिंसा फलित होती है। हिंसा निवृत्त हो जाय तो जो शेष रह जायगा, वही अहिंसा होगी। अतः अहिंसा निषेधात्मक है, यह समझना ऐकान्तिक सत्य नहीं है। हिंसाका निषेध आचारमें ही नहीं होना चाहिये, विचारमें भी होना चाहिये। विचारगत हिंसा ही एकान्त दर्शन है और अहिंसा अनेकान्त दर्शन। इस प्रकार समूचा जैनधर्म अपने आचार और विचारमें अहिंसा ही है।

हिंसाकी विवृत्ति राग-द्वेषकी निवृत्ति है। अतः रागद्वेषमें रहकर अहिंसा करनी अहिंसामें ही हिंसा करनी है। रागद्वेष हीनकी हिंसा भी अहिंसा है। अतः सर्वावरणमूल हिंसा ही है। रागद्वेष ही है। इस पर विजय प्राप्त करने वाला जिन है। हिंसाके विषयमें ठीक ही कहा है :

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वहिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।

आत्माके कुद्धोपयोग रूप परिणामोंके घात करनेके कारण असत्यवचनादि सभी पाप हिंसात्मक ही हैं। असत्यादि भेदोंका पापरूपमें कथन महज मन्दुबुद्धिवालोंके लिये है। हिंसाको और स्पष्ट करते हुये कहा गया है :

यत्खलु कसाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्यकरणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेतिजिनागमस्य संक्षेपः ।।

जैनागमका संक्षेप और सार यही है कि रागादि भावोंका प्रकट होना ही हिंसा है और उनका अप्रकट, शान्त या उच्छिन्न हो जाना ही अहिंसा है। कषाय (रागादि) वश अपने और परके भावप्राण तथा द्रव्यप्राणका घात करना हिंसा है। इस हिंसाके चार रूप हैं—स्वभावहिंसा, परभावहिंसा, स्वद्रव्यहिंसा, परद्रव्यहिंसा। अभिप्राय यह है कि मूल हिंसा रागद्वेष ही है। इसका प्रकाश वाह्य हिंसा है। साधकको दोनों पर ही बल देना है। भीतर अनासक्ति हो, तो बाहरी परिग्रह अवश्य अपरिग्रह है। पर अपरिपक्व कषाय-वालेको वाह्य परिग्रह प्रभावित करता है। अतः भीतर और वाह्य-दोनोंसे साधना करनी चाहिये, आचरण करना चाहिये।

अतः साधकको चाहिये कि पहले वह असम्यक् दृष्टि बने। देशचरित्र धारण करने पर वह पंचम गुणस्थानवर्ती हो जाता है। जब सकलचरित्र धारण करने लग जाता है, तब वह छठे गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इन तीनों प्रथम, पञ्चम, षष्ठ गुणस्थानवाले जीव परिणामोंकी विशुद्धिसे च्युत होनेपर दूसरे तीसरे गुणस्थानको प्राप्त होते हैं और परिणामोंकी विशुद्धि तथा चारित्रकी वृद्धि होने पर सातवेंसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंकी ओर बढ़ते हैं। पहले, चौथे, पाँचवें और तेरहवें गुणस्थानका काल अधिक है, शेषका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम। इस सारी साधनाको अहिंसाकी साधना कह सकते हैं। आचारमें अहिंसाके दो रूप हैं—संयम और तप। संयमसे कर्म पुद्गलोंका संवरण तथा तपसे संचितका क्षय होता है। इस प्रकार आत्माके सारे आवरण नष्ट हो जाते हैं। निराकृत आत्मस्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपसंहार

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले सम्यक्दर्शन अर्थात् जीवाजीवादि सात तत्त्वोंमें श्रद्धा रखे। यह श्रद्धा नैसर्गिक भी हो सकती है और अर्जित भी। जैसे भी हो, श्रद्धावान् होकर सातों तत्त्वोंका सम्यक्ज्ञान प्राप्त करें। अर्थात् पहले श्रद्धावान् होना फिर श्रद्धागोचर तत्त्वोंका ज्ञान करना और तदनन्तर यथाशक्ति श्रावक व्रत या मुनिव्रत धारण करना चाहिये। जो व्यक्ति परिस्थितियोंसे विवश है, वह विरक्ति या अनासक्तिकी दृढ़ता के लिये विचार ही करता रहे। विचार करते-करते चारित्र धारण करनेकी क्षमता उत्पन्न हो जाती है। बिना पूर्ण चरित्रके ध्यान या समाधिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। उत्पादित और बलानीत अनासक्ति को स्वभावगत करनेके लिए निरन्तर विचार करते रहना ही एक साधन है। मनन या सम्यक्ज्ञान ही मार्ग है। इस प्रकार साधक जितना ही विषयकी ओरसे विमुख होगा, आत्माकी ओर उतना ही उन्मुख होगा। ज्यों-ज्यों आत्मचिन्तन करता है, त्यों-त्यों आत्मानुभूति होने लगती है, त्यों-त्यों संसार उसे नीरस लगने लगता है। इस तरह आत्मिक शान्तिकी वृद्धि और तेजकी समृद्धि आने लगती है। इस ध्यान या समाधिमें जो सुख मिलता है, वह अनिर्वचनीय है। आनन्दावस्थामें प्रतिष्ठित योगी कोटि-कोटि भव सञ्चित कर्मोको क्षणमात्रमें भस्म कर देता है। आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार आलोच्य सूत्रोक्त रत्नत्रय असिद्ध दशामें मार्ग है, साधन है, आत्माकी ही परिणति रूप है। यही वेदान्तियोंके श्रवण, मनन, निदिध्यासन है। गीतामें इसे प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवाके रूपमें कहा गया है। भावना, विवेक तथा तन्मूलक आचारके सम्मिलित प्रयाससे ही व्यक्तिमें निहित परमात्मावधिक सम्भावनाओंका विकास होता है, आत्मा परमात्मा बन जाता है। वस्तुतः ये दर्शन, ज्ञान चरित्र आत्मस्वभाव ही हैं जो आत्माकी ही परिणत शक्तियाँ हैं, इन्हींसे स्वभाव खुलता है। ठीक ही है— स्वभावसे ही स्वभाव पाया जाता है, तभी तो वह स्वयं प्रकाश है। स्वभाव न कहीं जाता है और न कहींसे आता है, स्वभावके ही रूपान्तरित साधनात्मक रूपसे स्वभावका ही सहज रूप उपलब्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org